जैन योग में कुँडलिनी

⊙ मुनि श्री नथमल

योग की उपयोगिता जैसे-जैसे बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे उस विषय में जिज्ञासाएँ भी बढ़ती जा रही हैं। योग की चर्चा में कुंडलिनी का सर्वोपरि महत्व है। बहुत लोग पूछते हैं कि जैन योग में कुंडलिनी सम्मत है या नहीं ? यदि वह एक वास्तविकता है तो फिर कोई भी योग-परंपरा उसे अस्वीकृत कैसे कर सकती है ? वह कोई सैद्धान्तिक मान्यता नहीं है किन्तु एक यथार्थ शक्ति है। उसे अस्वीकृत करने का प्रश्न ही नहीं हो सकता।

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य में कुंडलिनी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उत्तरवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग मिलता है। वह तंत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य में कुंडलिनी का नाम तेजोलेश्या है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हठयोग में कुंडलिनी का जो वर्णन है, उसकी तेजोलेश्या से तुलना की जा सकती है। अग्नि ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम तेजोलेश्या है।[1] यह तप की विभूति से होनेवाली तेजस्विता है।

हम शरीरधारी हैं। हमारे शरीर दो प्रकार के हैं—स्थूल और सूक्ष्म। हमारा अस्थि-चर्ममय शरीर स्थूल है। तैजस और कर्म—ये दो शरीर सूक्ष्म हैं। हमारी सक्रियता, तेजस्विता और पाचन का मूल तैजस शरीर है। वह स्थूल शरीर के भीतर रहकर दीप्ति या तेजस्विता उत्पन्न करता रहता है। साधना के द्वारा उसकी शक्ति विकसित करली जाती है। तब उसमें निग्रह और अनुग्रह की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इस शक्ति का नाम तेजोलब्धि है। यह तैजस शक्ति उष्ण और शीत—दोनों प्रकार की होती है। उष्ण तेजोलब्धि के प्रहार को शीतल-तेजोलब्धि निष्फल बना देती है। बालतपस्वी वैश्यायन से गोशालक को जलाने के

---

1. ठाणं १।१६४, वृत्ति पत्र २६ :
तेज—अग्निज्वाला, तद् वर्णानि यानि द्रव्याणि लोहितानी त्यर्थः, तत्साचिव्याज्जाता तेजोलेश्या, शुभस्वभावा।

लिए उष्ण-तेजोलब्धि का प्रयोग किया तब महावीर ने शीतल-तेजोलब्धि का प्रयोग कर उसे निष्फल बना दिया। गोशालक ने महावीर से पूछा— 'भंते ! यह तेजोलेश्या कैसे प्राप्त की जा सकती है?' तब भगवान् ने उसे उपलब्ध करने की साधना बतलाई। उसकी चर्चा हम आगे करेंगे। वह तेजोलेश्या अप्रयोगकाल में संक्षिप्त और प्रयोगकाल में विपुल हो जाती है।[2]

वह विपुल अवस्था में सूर्य-बिम्ब के समान दुर्दर्श होती है[3]—इतनी चकाचौंध पैदा करती है कि आदमी उसे खुली आँखों से देख नहीं सकता। यही तथ्य हठयोग में 'सूर्यकोटिसमपुत्रम्' इस वाक्य के द्वारा व्यक्त किया गया हैं। तेजोलब्धि का प्रयोग करनेवाला जब अपनी इस तैजस शक्ति को बाहर फेंकता है तब वह महाज्वाला के रूप में विकराल हो जाती है।[4] तैजस शरीर की शक्ति के दो कार्य हैं—दाह (शाप या निग्रह) और अनुग्रह।[5] तैजस शरीर दो प्रकार का होता है—स्वाभाविक और लब्धिहेतुक। स्वाभाविक तैजस शरीर सबको प्राप्त होता है। तपो-विशेष या विशेष प्रकार की साधना करनेवाले व्यक्ति को लब्धिहेतुक तैजस शरीर उपलब्ध होता है।[6] जिसे लब्धिहेतुक तैजस शरीर प्राप्त होता है वह क्रुद्ध होने पर अपनी तैजस शक्ति को बाहर निकालता है और लक्ष्य को शाक-भाजी की तरह पका देता है। वह शक्ति अपना काम कर फिर लौट आती है, फिर उसी में समाहित हो जाती है। यदि वह शक्ति बहुत समय तक बाहर ठहरती है तो उस लक्ष्य को जलाकर भस्म कर डालती है।[7] तैजस शरीर की विकसित अवस्था का नाम तेजोलेश्या या तेजोलब्धि है और उसके प्रयोग का नाम तैजस समुद्घात है।

जो साधना के द्वारा तेजोलेश्या को प्राप्त कर लेता है वह सहज आनन्द की अनुभूति में चला जाता है। इस अवस्था में विषय-वासना और आकांक्षा की सहज निवृत्ति हो जाती है। इसीलिए इस अवस्था को 'सुखासिका' (सुख में रहना) कहा जाता है।[8] विशिष्ट ध्यानयोग की साधना करने वाला एक वर्ष में इतनी तेजो-

---

[2] भगवई १५।६६, वृत्ति पत्र ६६८ :
संक्षिप्ताऽ प्रयोगकाले, विपुला प्रयोगकाले।

[3] ठाणं ३।३८६, वृत्ति पत्र १३६ :
विपुलापि——विस्तीर्णापि सती अन्यथा आदित्यबिम्बवत् दुर्दर्शः स्यादिति।

[4] ठाणं ३।३८६, वृत्ति पत्र १३६ :
तेजोलेश्या——तपोविभूतिजं तेजस्वित्वं, तैजसशरीर-परिणतिरूप महाज्वालाकल्पम्।

[5] तत्त्वार्थवार्तिक २।४६, पृष्ठ १५४ :
तैजसस्य सामर्थ्यं कोपप्रसादापेक्षं दाहानुग्रहरूपम्।

[6] तत्त्वार्थ २।४८।

[7] तत्वार्थवार्तिक २।४६, पृष्ठ १५३ :
यतेरुग्रचारित्रस्यातिक्रुद्धस्य जीवप्रदेशसंयुक्त बहिर्निष्क्रम्य दाह्यं परिवृत्यावतिष्ठमानं निष्पावहरितपरिपूर्णां स्थालीमग्निरिवपचति पक्त्वा च निवर्तते, अथ चिरमवतिष्ठते अग्निसाद् दाह्योऽर्थो भवति।

[8] भगवई १४।१३६, वृत्ति पत्र ६५७ :
तेजोलेश्यां—सुखासिकां, तेजोलेश्या हि प्रशस्तलेश्योपलक्षणं सा च सुखासिकाहेतुरिति कारणे कार्योपचारात् तेजोलेश्याशब्देन सुखासिका विवक्षितेति।

लेश्या को उपलब्ध होता है कि जिससे उत्कृष्टतम भौतिक सुखों की अनुभूति अतिक्रान्त हो जाती है। उसे इतना सहज सुख प्राप्त होता है जो किसी भी भौतिक पदार्थ से प्राप्त नहीं हो सकता।[9]

तेजोलेश्या के दो रूप

हम चैतन्य और परमाणु-पुद्गल—दोनों को साथ-साथ जी रहे हैं। हमारा जगत् न केवल चैतन्य का जगत् है और न केवल परमाणु-पुद्गल का। दोनों के संयोग का जगत् है। चैतन्य की शक्ति से परमाणु-पुद्गल सक्रिय होते हैं और परमाणु-पुद्गलों की सक्रियता से चैतन्य की उनके अनुरूप परिणति होती है। इस नियम के आधार पर तेजोलेश्या के दो रूप बनते हैं—भावात्मक और पुद्गलात्मक। भावात्मक तेजोलेश्या चित्त की विशिष्ट परिणति या चित्‌शक्ति है।

तेजोलेश्यावाले व्यक्ति का चित्त नम्र, अचपल और ऋजु हो जाता है। उसके मन में कोई कुतूहल नहीं होता। उसकी इन्द्रियाँ सहज शान्त हो जाती हैं। वह योगी (समाधि-सम्पन्न) और तपस्वी होता है। उसे धर्म प्रिय होता है। वह धर्म का कभी अतिक्रमण नहीं करता।[10]

पुद्गलात्मक तेजोलेश्या के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श विशिष्ट प्रकार के होते हैं। उसका वर्ण हिंगुल, बालसूर्य या प्रदीपशिखा के समान लाल होता है। उसका रस पके हुए आम के फल के रस से अत्यधिक मधुर होता है। उसकी गंध सुरभि कुसुम से अत्यधिक सुखद होती है। उसका स्पर्श नवनीत या सिरीष कुसुम से भी अत्यधिक मृदु होता है।

तेजोलेश्या का विकास

तेजोलेश्या के विकास का कोई एक ही स्रोत नहीं है। उसका विकास अनेक स्रोतों से किया जा सकता है। संयम, ध्यान, वैराग्य, भक्ति उपासना, तपस्या आदि-आदि उसके विकास के स्रोत हैं। इन विकास-स्रोतों की पूरी जानकारी लिखित रूप में कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। यह जानकारी आचार्य शिष्य को स्वयं देता था। गोशालक ने भगवान् महावीर से पूछा—'भंते! तेजोलेश्या का विकास कैसे हो सकता है?' भगवान् ने इसके उत्तर में उसे तेजोलेश्या के एक विकास-स्रोत का ज्ञान कराया। उन्होंने कहा—'जो साधक निरंतर दो-दो उपवास करता है, पारणा के दिन मुट्ठी भर उड़द या मूंग खाता है और एक चुल्लू पानी पीता है, भुजाओं को ऊँचा कर सूर्य की आतापना लेता है वह छह महीनों के भीतर ही तेजोलेश्या को विकसित कर लेता है।[11]

---

[9] भगवई १४।१३६।

[10] उत्तरज्झयणाणि ३४।२७, २८:

नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दन्ते, जोगवं उवहाणवं॥
पियधम्मे दढधम्मे, वज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो, तेउलेसं तु परिणमे॥

[11] भगवई १५।६६, ७०:

तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—कहण्णं भंते! संखित्त-विउलतेयलेस्से भवति?

तए णं अहं गोयमा! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासीजेणं गोसाला! एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराभिमूहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ। से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेयलेस्से भवइ।

स्थानांग सूत्र में तेजोलेश्या के तीन विकास-स्रोत बतलाए हैं[12]——

1. आतापना—सूर्य के ताप को सहना।
2. क्षांतिक्षमा——समर्थ होते हुए भी क्रोध-निग्रह-पूर्वक अप्रिय व्यवहार को सहन करना।
3. जल पिए बिना तपस्या करना।

इनमें केवल क्षांतोक्षमा नया है। शेष दो उसी विधि के अंग हैं जो विधि महावीर ने गोशालक को सिखाई थी। तेजोलेश्या के निग्रह-अनुग्रह स्वरूप के विकास के स्रोतों की यह संक्षिप्त जानकारी है। उसका जो आनन्दात्मक स्वरूप है उसके विकास-स्रोत भावात्मक तेजोलेश्या की अवस्था में होनेवाली चित्तवृत्तियाँ हैं। चित्तवृत्तियों की निर्मलता के बिना तेजोलेश्या के विकास का प्रयत्न खतरों को निमंत्रित करने का प्रयत्न है। वे खतरे शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक——तीनों प्रकार के हो सकते हैं।

तेजोलेश्या का स्थान

तैजस शरीर हमारे समूचे स्थूल शरीर में रहता है। फिर भी उसके दो विशेष केन्द्र हैं——मस्तिष्क और नाभि का पृष्टभाग। मन और शरीर के बीच सबसे बड़ा सम्बन्ध-सेतु मस्तिष्क है। उससे तैजस शक्ति (प्राणशक्ति या विद्युतशक्ति) निकलकर शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन करती है। नाभि के पृष्ठभाग में खाए हुए आहार का प्राण के रूप में परिवर्तन होता है। अतः शारीरिक दृष्टि से मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग ये दोनों तेजोलेश्या के महत्वपूर्ण केन्द्र बन जाते हैं। यह तेजोलेश्या एक शक्ति है। उसे हम नहीं देख पाते। उसके सहायक परमाणु-पुद्गल सूक्ष्मदृष्टि से देखे जा सकते हैं। ध्यान करनेवालों को उनका यत्किंचित् आभास होता रहता है।

तेजोलेश्या और प्राण

तेजोलेश्या एक प्राणधारा है। किन्तु प्राणधारा और तेजोलेश्या एक ही नहीं है। हमारे शरीर में अनेक प्राणधाराएँ हैं। इन्द्रियों की अपनी प्राणधारा है। मन, वाणी और शरीर की अपनी प्राणधारा है। श्वास-प्रश्वास और जीवन शक्ति की भी स्वतन्त्र प्राणधाराएँ हैं। हमारे चैतन्य का जिस प्रवृत्ति के साथ योग होता है वहीं प्राणधारा बन जाती है। इसलिए सभी प्राणधाराएँ तेजोलेश्या नहीं हैं। तेजोलेश्या एक प्राणधारा है। इन प्राणधाराओं के आधार पर शरीर की क्रियाओं और विद्युत्-आकर्षण के संबंध का अध्ययन किया जा सकता है।

प्राण की सक्रियता से मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की वृत्तियाँ उठती हैं और जब तक तेजोलेश्या के आनन्दात्मक स्वरूप का विकास नहीं होता तब तक वे उठती ही रहती हैं। कुछ लोग वायु-संयम से उन्हें रोकने का प्रयत्न करते हैं। यह उनके निरोध का एक उपाय अवश्य है। किन्तु वायु-संयम (या कुंभक) एक कठिन साधना है। उसमें बहुत सावधानी बरतनी होती है। कहीं थोड़ी-सी असावधानी हो जाती है अथवा योग्य गुरू का पथ-दर्शन न हो तो कठिनाइयाँ और बढ़ जाती हैं। मनः संयम से चित्त वृत्तियों का निरोध करना निर्विघ्न मार्ग है। इसकी साधना कठिन है, पर यह उसका सर्वोत्तम उपाय है। प्रेक्षा ध्यान के द्वारा उसकी कठिनता को मिटाया जा सकता है। चित्त की प्रेक्षा चित्तवृत्तियों के निरोध का महत्वपूर्ण उपाय है।

---

[12] ठाण ३।३८६ :
तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संखित्तविउलतेउलेस्से भवति, तंजहा—आयावणताए, खंतिखमाए, अपाणगेण तवोकम्मेणं।